□ आर्या चन्द्रावती 'जैन सिद्धान्ताचार्य'
[विदुषी लेखिका तथा साधनानिष्ठ श्रमणी]

साधना पथ के दृढ़व्रती साधक—जैन श्रमण की आचार-विधि का आगम-सम्मत एवं सर्वांगीण-सरल विवेचन विदुषी आर्या चन्द्रावती जी ने यहाँ प्रस्तुत किया है।

श्रमणाचार : एक अनुशीलन

□

आर्य संस्कृति का मौलिक तत्त्व—आचार

आर्य संस्कृति में एक ऐसा मौलिक महत्त्व है जिसके आधार पर भारत के गौरव की प्राण प्रतिष्ठा हुई है। उसका नाम है 'आचार'। 'आचार' भारत का ऐसा चमचमाता सितारा है जिसकी अत्युज्वल यशोरश्मियाँ विराट्-विश्व में यत्र-तत्र-सर्वत्र परिव्याप्त हो रही हैं। आचार आर्य संस्कृति की महिमा का मूलाधार है, और जन-जीवन की प्रतिष्ठा का प्राण है। आचार के बल पर ही मानव-महामानव एवं आत्मा-परमात्मा के चरमोत्कृष्ट गौरव के गगनचुम्बी शिखर पर चढ़कर अत्युच्च पद पर प्रतिष्ठित होता है। भारतीय संस्कृति से यदि आचार जैसा मौलिक तत्त्व निकाल दिया जाय तो वह नवनीत-विहीन दुग्धवत निस्सार है, जीवशून्य देहवत मृतक है, एवं अंक रहित शून्यवत शून्य है। 'आचार' ही भारत को जगद्गुरु बनाने की योग्यता का उपहार दिलाने का सर्वथा समर्थ साधन है। इसीलिए महान श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—अंगाणं किं सारो—आयारो !—अंगों (श्रुतज्ञान) का सार क्या है ? आचार !

भारत देश जितना कृषि प्रधान है उतना ही अधिक ऋषि प्रधान भी है। यहाँ जहाँ नीलांचल फहराती अन्न की फसलें झूमती हैं तो वहीं उनके चारों ओर चक्कर लगाती रंग-विरंगे वसन पहने कोकिल कंठी कृषक वधुएँ एवं कृषक कन्याएँ ऋषि-मुनियों की अमर यशोगाथाएँ अपने स्वर्गीय संगीतों से मुखर करती रहती हैं।

विराट् हृदय भारत के पुण्य प्रांगण में अनेक धर्मों की संस्कृतियों का उद्गम, संरक्षण एवं संवर्द्धन हुआ है। जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम, पारसी, सिक्ख इत्यादि। किन्तु शत सहस्र लक्षाधिक धर्म संस्कृतियों में भारत की अति-प्राचीन एवं अपनी निजि दो मौलिक संस्कृतियाँ हैं एक है श्रमण संस्कृति, दूसरी है ब्राह्मण संस्कृति। दोनों संस्कृतियों में कहीं एकरूपता है, तो कहीं अनेकरूपता भी है। फिर भी दोनों एक-दूसरे के समीप हैं। दोनों के तुलनात्मक संशोधन करने में अतीव-गंभीर अध्ययन व श्रम अपेक्षित है। अतः यहाँ एकमात्र श्रमण संस्कृति के एक महान् तत्त्व 'श्रमणाचार' पर विवेचन कर रहे हैं।

श्रमण साधना में आचार का स्थान—परिभाषा व प्रभाव

अध्यात्म विज्ञान के आविष्कार का फल है धर्म और धर्म के आविष्कर्त्ता या संशोधक है धर्म-गुरु। भौतिक-विज्ञान के आविष्कर्त्ता वैज्ञानिक होते हैं और उसका फल है बाहर के जड़ परिवर्तन, वायुयान, पंखे, रेडियो, सिनेमा, विद्युत, प्रेस, टेलीफोन, टेलिविजन, रेफरीजरेटर इत्यादि लाखों यांत्रिक साधन भौतिक विज्ञान के प्रतीक हैं। और आत्म-विज्ञान के आविष्कर्त्ता होते हैं धर्म-गुरु। जो बाहर के समस्त साधनों को सीमित कर एकमात्र शुद्धात्मा की खोज में लग जाते हैं। यद्यपि भौतिक विज्ञान एवं आत्म-विज्ञान दोनों का एकमात्र उद्देश्य है सुख, किन्तु दोनों से प्राप्त हुए सुख में दिन-रात अथवा आकाश-पाताल का अन्तर है। एक अशाश्वत है तो दूसरा शाश्वत। एक की प्राप्ति संरक्षण एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विनाश। तीनों में दुःख है, श्रम है, किन्तु दूसरा सहज है और उसकी प्राप्ति भी सरल एवं स्वाभाविक है। आत्म-विज्ञान का उद्देश्य भी विश्व की सुख-शान्ति है किन्तु विश्व-शान्ति आत्म-शान्ति के बिना असम्भव है। अतः धर्मगुरु आत्म-शान्ति के प्रमुख साधन से ही विश्व-शान्ति का अमृत झरना प्रवाहित करता है।

विश्व के प्रत्येक धर्मगुरु का जीवन आचार पर अवलम्बित है किन्तु आधुनिक विश्व में सर्वोत्कृष्ट स्वावलम्बन एवं स्वन्त्रता की कसौटी पर परीक्षण करने पर जैन श्रमण का आचार सर्वोच्च माना जाता है। जैनश्रमण की आचार पद्धति इतनी महान् है कि जन-जन ही नहीं विश्व-विजेता चक्रवर्ती सम्राट् भी उसके समादर में सहज नत हो जाता है। श्रमणाचार की परिभाषा से उसका वास्तविक मूल्यांकन निर्धारित होता है।

'श्रमण' और 'आचार' इन दोनों शब्दों के समन्वय से श्रमणाचार की निष्पत्ति हुई है। संस्कृत भाषा के अनुसार 'आ' उपसर्गपूर्वक 'चर' धातु से 'आचार' शब्द बनता है उसका तात्पर्य है **'आ-समन्तात् चर्यंत इति आचार :** "जीवन की प्रत्येक क्रिया में जो ओतप्रोत हो वह आचार है। उसमें क्या खाना, कैसे खाना ऐसे ही चलना, बोलना, सोना, बैठना, चिन्तन करना इत्यादि जीवन की समस्त आन्तरिक एवं बाह्य क्रियाओं का समावेश हो जाता है। आचार से पूर्व इसमें 'श्रमण' शब्द संयुक्त है। श्रमण शब्द की अनेक शास्त्रीय व्याख्याएँ हैं। 'श्रम' शब्द अनेक तात्पर्यों से विभूषित हैं जैसे श्रम, सम, शमन, सुमन, आदि-आदि उसमें एक अर्थ है **"श्राम्यतीति श्रमणः"** अर्थात् जो मोक्ष के लिए श्रम पुरुषार्थ करता है वह श्रमण है। द्वितीय तात्पर्य है "समता से श्रमण" होता है। "जो शत्रु और मित्र को समान भाव से देखता है वह श्रमण है। जो विश्व के सभी भूत अर्थात् जीवात्माओं को अपनी आत्मा के समान समझकर आत्मवत व्यवहार करता है वह श्रमण है।[1] यही बात वैदिक दर्शन में भी है। उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नीसवें अध्याय में श्रमण की बहुत सुन्दर व्याख्या की गई, वह है—"जो लाभ एवं हानि में, सुख व दुःख में, जीवन तथा मृत्यु में निन्दा व प्रशंसा में, मान तथा अपमान में समभाव रखता है वह श्रमण है। "जो इस लोक में अनिश्रित है, परलोक में अनिश्रित है अर्थात् किसी भी आशा तृष्णा के प्रतिबन्ध से मुक्त है तथा जो चन्दन के वृक्ष समान काटे जाने पर भी सौरभ प्रदान करने के समान अपना अहित करने वाले पर भी समभाव की सुधा वर्षाता है तथा भोजन में भिक्षा देने और नहीं देने वाले पर भी प्रसन्न रहता है वह श्रमण है।"[2] यह है 'श्रमणाचार' शब्द की एक शास्त्रीय व्याख्या। अब उसके उद्देश्य एवं बाह्य अन्तर के आचार पर विविध दृष्टियों से विवेचन किया जावेगा।

श्रमणाचार का शास्त्रीय स्वरूप

श्रमणत्व का जन्म—मानवमात्र कोई जन्मजात श्रमण नहीं होता किन्तु श्रमणत्व एक साधना विशेष है जिसे समझपूर्वक स्वीकृत किया जाता है। अथवा श्रमण एक विशिष्ट पद विशेष है जिसे पुरुषार्थ से प्राप्त किया जाता है। जैसे एक मानव शिशु-विद्यालय में प्रविष्ट होकर अपने विशेष श्रम से बी० ए०, एम०ए०, डाक्टर, इन्जिनियर, वैज्ञानिक इत्यादि एक विषय में निष्णात होकर बाहर आता है, इसी प्रकार श्रमण भी आत्मसाधना के केन्द्र में प्रवेश करके सर्वोच्च आत्म-विकास की स्थिति को प्राप्त करता है। इसीलिए श्रमण का जन्म माता के गर्भ से नहीं किन्तु गुरु के समीप होता है जैसे श्रमण भगवान् महावीर प्रभु के समीप गौतम स्वामी सुधर्मा आदि चौदह सहस्र साधकों ने श्रमण-दीक्षा स्वीकार की थी। उन साधकों के लिए शास्त्रों में यत्र-तत्र-सर्वत्र 'अणगारे जाए' शब्द प्रयुक्त है अर्थात् श्रमण अनगार का जन्म हुआ।

श्रमण का उद्देश्य

प्रत्येक साधना का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है वह साधना चाहे लौकिक हो या लोकोत्तर। ऐसे विश्व में चार पुरुषार्थ विशिष्ट माने जाते हैं, वे हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें दो लौकिक हैं, दो लोकोत्तर। प्रथम में अर्थ साधन है तो काम साध्य। द्वितीय लोकोत्तर पुरुषार्थ में धर्म साधन है और मोक्ष साध्य। श्रमण एक साधक है तो उसके भी साधन व साध्य अवश्य है। क्योंकि निरुद्देश्य कोई प्रवृत्ति नहीं होती। श्रमण का साध्य है मोक्ष। अर्थात् आत्मा को संसार के दुःखों से मुक्त करने के लिए ही श्रमणत्व की साधना की जाती है। महात्मा बुद्ध भी संसार को दुःखमय मानकर अपने अबोध शिशु राहुल, प्रिय पत्नी यशोधरा एवं विशाल राज्य को त्याग कर निकल

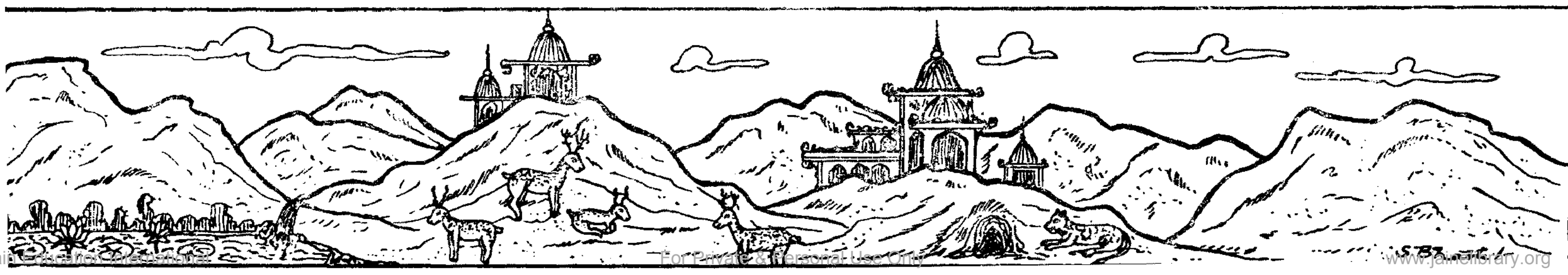

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पड़े थे और भगवान महावीर भी विराट् साम्राज्य एवं विलखते प्रिय परिवार के ममत्व बन्धन को तोड़ कर निकल पड़े थे श्रमण साधना के लिए। उनका एकमात्र उद्देश्य था आत्मा की दुःख से मुक्ति। अतएव श्रमण का उद्देश्य है आत्मा। आत्मा के लिए ही श्रमणत्व की साधना में प्रवेश होता है। सूत्रकृतांग में बताया है 'एकमात्र आत्मा के लिये प्रवज्या है।[3] 'आत्मा के लिए संवृत होते हैं,[४] संसार दुःख से व्याप्त है, आत्मा जब तक संसार के किनारे नहीं पहुँचती तब तक दुःख से मुक्त नहीं होती।' उत्तराध्ययन सूत्र में श्रमणत्व को एक नौका के समान बताया है। 'जो नौका सछिद्र होती है वह समुद्र के तट पर नहीं पहुँच पाती। और जो नौका निश्छिद्र होती है वह सागर पार हो जाती है।' तात्पर्य यह है कि जीवन नौका-रूप है, उसमें पाप-रूप छिद्र है जिनसे कर्मरूप पानी आता है किन्तु जिसने संयम के द्वारा वे छिद्र ढक दिये हैं तो वह आत्मा संसार के पार मोक्ष के किनारे पहुँच जाती है। इससे आगे चलकर शास्त्रकार ने शरीर को नौका की उपमा दी है। जैसे—'शरीर नौका है, आत्मा नाविक है संसार एक महासागर है, जिसे महर्षिगण अपने श्रमणत्व की साधना से पार करके मुक्ति पा लेते हैं।''[५]

श्रमण का अन्तराचार

एक श्रमण की पहचान क्या गृहस्थ का वेश छोड़कर श्रमण का वेश पहन लेना है। मुख पर पट्टी, रजोहरण, एवं काष्ट पात्र रखना, भिक्षाचर्या से उदरपूर्ति एवं केशों का लुंचन करना ये सभी श्रमण के बाह्याचार हैं। एकमात्र बाह्यलक्षण से ही कोई श्रमण नहीं कहला सकता, इसीलिए भगवान महावीर स्वामी ने कहा ''सिर का मुंडन करने से कोई श्रमण नहीं हो सकता, ओंकार जप से ब्राह्मण, अरण्यवास से मुनि एवं वल्कल चीर पहनने से कोई तापस नहीं हो सकता। अपितु समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, मौन से मुनि एवं तप से ही तापस कहलाता है।[६] इसीलिए किसी अनुभवी ने कहा है—''बाना बदले सौ-सौ बार बदले बान तो बेड़ा पार'' तात्पर्य यह है कि बान अर्थात् आदत, अभ्यास एवं संस्कारों में परिवर्तन होना चाहिये। ठाणांग सूत्र में श्रमण के लिए दस प्रकार का मुँडन बतलाया है। वह है श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षु, घ्राण, रसना एवं स्पर्शेन्द्रिय के विषयों पर रागद्वेष का निग्रह करना एवं क्रोध, मान, माया तथा लोभ पर विजय करना, इन नौ प्रकार के आन्तरिक कुसंस्कारों पर पहले विजय करने पर दसवां सिर के बालों का मुंडन करना सार्थक होता है।[७]

श्रमण धर्म की दस विशेषताएँ

श्रमण के लक्षणों को श्रमण धर्म कहा जाता है। श्रमण के प्रमुख दस धर्म इस प्रकार हैं—१. **क्षमा**—शत्रुमित्र पर समभाव, २. **मुक्ति**—निर्लोभ वृत्ति, ३. **आर्जव**—सरलता, मन, वचन, काय योग की एकरूपता, ४. **मार्दव**—मृदुलता निरभिमानता, ५. **लाघव**—परिग्रह एवं ममत्व मोहरहित, ६. **सत्य**, ७. **संयम**, ८. **तप**—द्वादशविध बाह्य-भ्यान्तर तप, ६. **त्याग**, १०. **ब्रह्मचर्य**।

श्रमण, अनगार के सत्ताईस मूल गुण

श्रमण साधना के सहस्रों गुण होते हैं किन्तु उनमें कुछ प्रमुख गुणों का वर्णन करने से उनमें सभी गुणों का समावेश हो जाता है। श्रमणाचार के नियमों को लेकर जैन वाङ्मय में अपार सामग्री यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरी पड़ी है, यदि उन्हे सम्यक् प्रकार से व्यवस्थित किया जाय तो 'श्रमणाचार' के एक ही विषय पर बहुत बड़ी पुस्तक तैयार हो सकती है। किन्तु इस छोटे से निबन्ध में भी यथाशक्ति 'गागर में सागर' भरने को उक्ति चरितार्थ हो सकती है। समवायांग सूत्र में अनगार के २७ गुण हैं वे इस प्रकार हैं—

''प्राणातिपात विरमण'' ऐसे ही सर्वथा प्रकार से मृषावाद का त्याग, अदत्तादान त्याग, मैथुन त्याग, परिग्रह त्याग, श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह आदि ५वीं स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह, क्रोधविवेक, मानविवेक, माया-विवेक, लोभ विवेक, भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य, क्षमा, वैराग्य, मन समाधारणता, वचन समाधारणता, काय समाधारणपा, ज्ञान-संपन्नता, दर्शन-संपन्नता, चरित्र-संपन्नता, वेदना सहन एवं मृत्यु सहिष्णुता।[८]

इन २७ गुणों को श्रमण के मूलगुण कहते हैं। प्रायः जैन समाज की सभी सम्प्रदायों एवं शाखाओं को श्रमण के ये २७ मूलगुण मान्य हैं उनमें मूर्तिपूजक, स्थानकवासी, तेरह पन्थ, सभी सम्प्रदायें सम्मत हैं, किन्तु दिगम्बर जैन शाखा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण के २८ मूलगुण मानती है। उनके नियमों में कुछ भिन्नता है। वह इस प्रकार है—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये ५ महाव्रत एवं पाँच इन्द्रियों का निग्रह, पंच समिति, ६ आवश्यक, स्नान त्याग, शयनभूमि का शोधन, वस्त्रत्याग, केशलुंचन, एक बार भोजन, दन्तधावन त्याग, खड़े-खड़े भोजन करना। इन गुणों में ५ महाव्रत एवं ५ इन्द्रिय निग्रह हैं। दस गुण श्वेताम्बरों से मिलते हैं। शेष १८ गुण बाह्याचार से सम्बन्धित हैं।

सत्रह प्रकार का नियम

जैन श्रमण १७ प्रकार से संयम साधता है, वह इस प्रकार है—पृथ्वीकाय संयम, अपकाय संयम, तेजस (अग्नि) काय संयम, वायुकाय संयम, वनस्पतिकाय संयम, बेइन्द्रिय संयम, त्रीन्द्रिय संयम, चतुरिन्द्रिय संयम, पंचेन्द्रिय संयम, अजीवकाय संयम, प्रेक्षा संयम—सोते, बैठते समय, वस्त्रादि उपकरण लेते रखते हुए अच्छी तरह से देखना, उपेक्षा संयम—सांसारिक कार्यों की उपेक्षा अपहृत्य संयम—श्रमण-धर्म का अध्ययन करना व कराना तथा आहार, शरीर, उपाधि, मलमूत्रादि परिष्ठापन करते हुए जीवरक्षा करना। प्रमार्जना संयम—जिन वस्त्र, पात्र, मकान, शरीर का उपयोग करते हैं उन्हें प्रमार्जनी, गुच्छक विशेष से पूजना। मन संयम—मन संक्लेश कषायरहित प्रसन्न रखना। वचन संयम—हिंसाकारी असत्य, मिश्र, सिद्धान्त विरुद्ध वचन न बोलना, काय संयम—सोने, बैठने, खाने, पीने, चलने आदि शारीरिक क्रिया के समय जीवरक्षा का विवेक रखना।[९]

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो संयम एक ही प्रकार का है और वह है असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति।[१०]

असंयम क्या है? इसकी व्याख्या अत्यन्त विस्तृत है। सूत्रकार कहते हैं कि—राग व द्वेष जनित वृत्ति ही असंयम है। इससे असंयम के दो भेद हुए, उन पर विजय करना संयम है। इस तरह एक से लगाकर तेतीस बोल तक असंयम से संयम की व्याख्या की गई है—जैसे तीन दण्ड हैं—मन, वचन, काया। तीन शल्य हैं—माया शल्य, निदान शल्य, मिथ्यादर्शन शल्य। तीन उपसर्ग हैं—देव, मनुष्य, तिर्यंच कृत। ऐसे चार कषाय, चार संज्ञा, चार ध्यान में से दो ध्यान हेय हैं। ५ इन्द्रियां ५ समिति, ५ क्रिया, लेश्याषटक, कायाषटक, सप्तभय, सप्तप्रतिमा, अष्ट मदस्थान, ब्रह्मचर्य रक्षा की ९ वाड़ें, दस यतिधर्म, एकदश उपासक प्रतिमा, द्वादश भिक्षुप्रतिमा, त्रयोदश क्रियास्थान, चतुर्दश भूतग्राम, पंचदश परमाधार्मिक, षोडष गाथा, सप्तदश असंयम, उन्नीस ज्ञात अध्याय, बीस असमाधि स्थान, इक्कीस सबल दोष, २२ परीषह, २३ सूत्रकृत, २४ देवकृत, २५ भावना, २६ दशाश्रुत स्कन्ध, २७ अनगारगुण, २८ आचारकल्प, २९ पापसूत्र, ३० महामोह, ३१ सिद्धातिशय, ३२ योग संग्रह, ३३ आशातना। इस प्रकार अनेकों आन्तरिक विकृतियाँ हैं, उन पर विजय करके आत्मा को पूर्ण समाधिस्थ, प्रसन्न एवं स्वस्थावस्था में ले जाने का पुरुषार्थ करने वाला श्रमण पद से अलंकृत हो सकता है। श्रमणत्व एक महौषधी है जो आत्मा की अनेक आन्तरिक व्याधियों का उपशमन करके आत्मा को स्वस्थ व प्रसन्न बना देती है।

श्रमणत्व का अधिकारी

श्रमण साधना के केन्द्र में प्रविष्ट होने वाले को सर्वप्रथम सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्दर्शन से सम्पन्न होना चाहिये। जो जीव एवं अजीव का स्वरूप नहीं जानता है वह संयम का अधिकारी कैसे हो सकता है। जो जीव और अजीव का ज्ञाता है वही संयम का सच्चा अधिकारी है। जीवादि तत्त्वों का सम्यक्ज्ञान होने पर ही जीवों की दया-रक्षा रूप संयम में स्थित रह सकता है।

दशवैकालिक सूत्र[११] में संयम का क्रम ज्ञान से आरम्भ करके श्रमणत्व के साध्य सिद्धत्व पर्यन्त पहुँचाया गया है। यथा—"जो जीवाजीव का ज्ञाता है वह जीवों की रक्षा व दयारूप संयम का ज्ञाता है। जो संयम को जानता है वह जीवों की बहुविध दुर्गति सद्गति को जानेगा। जो जीवों की गति का ज्ञाता है वह पुण्य-पाप भी जानेगा, क्योंकि पाप से जीव की दुर्गति व पुण्य से सुगति होती है। जो पुण्य-पाप का ज्ञाता है तो बन्ध-मोक्ष भी समझेगा और बंध-मोक्ष समझने पर देव, मनुष्य सम्बन्धी भोगों से निर्वेद अर्थात् अनासक्ति या वैराग्य भाव करेगा और जब विरक्त साधक बाहर-भीतर के संयोगों से विरक्त होगा तब संयोग से मुक्तात्मा मुंडित होकर उत्कृष्ट संवर-आत्मरमण को स्पर्श करेगा। संवर होने पर अबोध-अज्ञान कृत कलमष कर्मरज को दूर करता है। जो अज्ञानकृत कलुषित कर्मरज को दूर कर देता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह सम्पूर्ण ज्ञान, दर्शन का अधिकारी होता है। जब सम्पूर्ण ज्ञानदर्शन प्राप्त होता है तब उस ज्ञान के महाप्रकाश में अखिल लोक एवं अलोक के स्वरूप को जानता है। जब अखिल लोकालोक के स्वरूप को जानता है तब वह राग-द्वेष का विजेता वीतराग एवं जिन हो जाता है तथा केवली कहलाता है। जब जिन केवली होता है तब मन, वचन, काया के योगों का निरुंधन करके शैल-पर्वतवत स्थिरता को प्राप्त कर शैलेशी अवस्था को पाता है। जब शैलेशी अवस्था पाता है तब नीरज, निरंजन होकर सिद्धि को पाता है और जब सिद्धि अर्थात् योग में सफलता मिलती है तब लोक अर्थात् विश्व के मस्तक समान लोक के अत्युच्च स्थान पर स्थित होकर शाश्वत सिद्ध हो जाता है।" तात्पर्य यह है कि श्रमणत्व का जो साध्य सिद्धावस्था प्राप्त होती है, उसकी सर्वप्रथम श्रेणी एवं मूल भूमिका ज्ञान एवं दर्शन है। जैन वाङ्मय के संक्षिप्त सूत्रकार आचार्य श्री उमास्वाति ने भी अपने तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम सूत्र में यही सिद्धान्त रखा है कि—

"सम्यक् दर्शन ज्ञानपूर्वक चारित्र ही मुक्ति का साधन है।"[१२]

वैसे ही उन्होंने वैराग्योत्पत्ति का कारण भी ज्ञान को ही माना है, जब विश्व एवं देह की अनित्यता के स्वभाव का ज्ञान होता है तब संवेग एवं वैराग्य की उत्पत्ति सहज ही होती है।[१३] ज्ञान को निश्चय, विश्वास एवं श्रद्धा को दर्शन कहते हैं। दर्शन के बिना ज्ञान मिथ्याज्ञान अर्थात् अज्ञान माना जाता है अतः श्रद्धापूर्वक ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। दर्शन के बिना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती और ज्ञान के बिना चारित्र नहीं तथा चारित्र के अभाव में मुक्ति नहीं होती।[१४] इसीलिए साधक के हृदय में यह लोक है, यह अलोक है, जीव है, अजीव है पुण्य है, पाप है, बन्धन है, मोक्ष है, लोक है, परलोक है—इस प्रकार जिनोक्त सिद्धान्त पर सुदृढ़ विश्वास हो तभी वह श्रमणत्व का सच्चा अधिकारी हो सकता है। ये प्रमुख गुण हैं, इसके अतिरिक्त श्रमण धर्म स्वीकार करने वाले आत्मा के अन्य बाह्य विशेषताएँ भी देखी जाती हैं। वे निम्न हैं—१. आर्य देशोत्पन्न—इसमें विशेष योग्यता होने पर अनार्य देशवासी एवं निम्न कुलोत्पन्न भी कभी-कभी दीक्षा के पात्र माने जा सकते हैं, २, शुद्धजाति कुलान्वित, ३. क्षीणप्राय अ-शुभ कर्म, ४. विशुद्ध धी, ५. विज्ञात संसार, ६. विरक्त, ७. मन्दकषायभाक्, ८. अल्पहास्यादि, अकौतुहली ९. कृतज्ञ, १०. विनीत, ११. राजसम्मत, १२. अद्रोही, १३. सुन्दरांग भूत-पंचेन्द्रिय पूर्ण हों, कोई भी अंग भंग न हो, १४. श्रद्धावान, १५. स्थिर—स्वीकृत व्रतों को यावज्जीव निवाहे, १६. समुपसम्पन्न—पूर्ण इच्छा से अपना पूरा जीवन संयम में बिताने आया हो। इस प्रकार अनेक अन्तर बाह्य सद्गुणों से अलंकृत व्यक्ति श्रमणधर्म पालने, उसमें प्रवेश करने का योग्य पात्र माना जाता है।

श्रमण के बाह्याचार

श्रमण का अन्तराचार के साथ-साथ बाह्याचार भी अत्यन्त विशुद्ध होता है क्योंकि दोनों का कारण कार्य सम्बन्ध है। जहाँ-जहाँ कारण होता है वहाँ-वहाँ कार्य भी अवश्य होता है। कारण बीजवत् है तो कार्य अंकुरवत है। निमित्त और उपादान, निश्चय और व्यवहार ये दोनों सदैव साथ होने पर ही कार्य की सिद्धि होती है। कभी-कभी व्यवहार शुद्धि होने पर निश्चय नहीं भी होता है किन्तु निश्चय शुद्ध होने पर व्यवहार अवश्य ही शुद्ध होता है। काल, स्वभाव, नियति, भाग्य एवं पुरुषार्थ इन पाँच समवायों के मिलने पर ही साध्य की सिद्धि होती है। कोई यह न सोचे कि श्रमण को अन्तराचार से ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है अतः बाह्याचार निरर्थक है, किन्तु ऐसा नहीं है। श्रमण के लिये जितना अन्तराचार, आन्तरिक सद्गुण आवश्यक है उतना ही बाह्याचार भी अत्यावश्यक है। दशवैकालिक सूत्र में साधक ने जीवन के बाह्याचार के सम्बन्ध में बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न किया है, वह है" कैसे चले, कैसे खड़े रहे, कैसे बैठे, कैसे सोये, कैसे भोजन करे, कैसे बोले, जिससे पाप कर्मों का बन्धन न हो?[१५] इन प्रश्नों का समाधान भी सूत्रकार ने बहुत सुन्दर दिया है, वह है—यतना अर्थात् जीवों की रक्षा करते हुए चलने, खड़े रहने, बैठने, सोने, भोजन करने एवं भाषण करने में पापकर्म का बन्धन नहीं होता और न उसका कटुफल ही होता है।[१६] यह बाह्याचार दैहिक कार्य है।

श्रमण के बाह्य उपकरणों के साधन

श्रमण अपने सम्पूर्ण अन्तर और बाह्य संयोग-जन्य पदार्थों का परित्याग करके साधना के लिए निकल पड़ता है। फिर भी उसके साथ शरीर तो रहता ही है। यह नहीं हो सकता कि आयु का अन्त वह स्वयं ही अनुचित साधनों से कर ले। यह तो आत्महत्या होगी, किन्तु साधना नहीं। अतः संयम के साथ-साथ वह देह का संरक्षण भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है। देह रक्षा के लिए भोजन भी आवश्यक है। वस्त्र, पात्र एवं मकान भी आवश्यक है। उन्हें यदि वह स्वयं उपार्जित करता है तो हिंसादि अनेक पाप होंगे। अतः वह एक मात्र निर्दोष भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करता है। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है "जो संयोग से मुक्त है वह अनगार है[१७] और जो अनगार साधक है वह भिक्षु है।" साधक का भिक्षावृत्ति से निर्वाह करना अत्यावश्यक है। साधक नौ प्रकार के बाह्य संयोग-परिग्रह एवं चौदह प्रकार के आभ्यन्तर संयोग से मुक्त होता है। बाह्य निम्न हैं : १. क्षेत्र, (खुली धरती), २. वस्तु (मकान, भवन), ३. हिरण्य, ४. सुवर्ण, ५. धन मुद्रादि, ६. धान्य, ७. दासी, ८. दास, ९. कुप्य-वस्त्रपात्रादि। आभ्यन्तर परिग्रह, १४. निम्न है—१. मिथ्यात्व, ३. वेद, ५. हास्य, ६. रति, ७. अरति, ८. शोक, ९. भय, १०. जुगुप्सा, ११. क्रोध, १२. मान, १३. माया, १४. लोभ। इनसे मुक्त हो वह निर्ग्रन्थ होता है। सब कुछ त्यागने पर भी श्रमण को अपनी देह रक्षा के लिए चार वस्तुएँ आवश्यक होती हैं वह हैं—१. पिंड-अन्नजल औषधी आदि, २. शैया-स्थान, मकान, निवासार्थ, ३. वस्त्र, ४. पात्र?[१८]

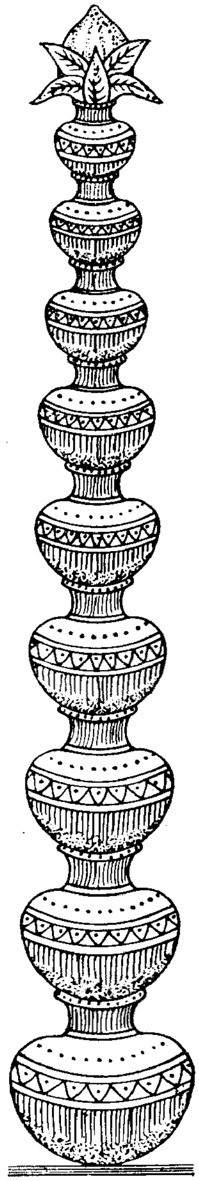

पात्र विधि, वस्त्र विधि, स्थान एवं आहार विधि

श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने जब सर्वसंग परित्याग कर श्रमण साधना आरम्भ की तब उन्होंने कोई भी पात्र अन्नजल ग्रहण करने के लिये नहीं रखा। साढ़े बारह वर्ष तक वे एकाकी रहे तब तक वे करपात्र भोजी थे। यह एक ऐतिहासिक खोज का विषय है कि उन्होंने देह-विशुद्धि के लिये भी कोई एक भी काष्ट पात्र, तुम्बा अथवा कमण्डलु रखा था या नहीं। हाँ, जलपान या दुग्धपान तो करपात्र में भी किया जा सकता है। कहते हैं कि तीर्थंकरों के पाणिपात्र कर संपुट निश्छिद्र होते हैं, उनसे जल अथवा किसी तरल पदार्थ की एक बूँद भी नीचे नहीं गिरती यह हो सकता है असम्भव नहीं। भगवान महावीर साढ़े बारह वर्ष तक दो दिन से लेकर अर्धमाह, माह, दो माह एवं चार मास एवं छः महीने तक की लम्बी तपश्चर्याएँ करते रहे। साढ़े बारह वर्ष में उन्होंने ३४९ दिन ही भोजन किया था, फिर भी इतने दिन भी देह विशुद्धि के लिये जल ग्रहण करने को पात्र की आवश्यकता हुई होगी। बहुत सम्भव है कि आवश्यकता होने पर उन्होंने मृण्मयपात्र ग्रहण किया हो और फिर त्याग दिया हो। कुछ भी हो किन्तु वे किसी एक भी पात्र को सदैव साथ हाथ में लेकर नहीं घूमते थे, यह एक तथ्य है। कल्पसूत्र के अनुसार भगवान महावीर स्वामी ने श्रमण-साधना के प्रथम चातुर्मास में पाँच प्रतिज्ञाएँ ग्रहण की थीं, उनमें एक प्रतिज्ञा थी पाणिपात्र में भोजन करना किन्तु गृहस्थ के पात्र में भोजन नहीं करना। वे पाँच प्रतिज्ञाएँ निम्नः थीं—१. अप्रीतिकर स्थान में निवास न करना, २. पूर्ण ज्ञान बिना उपदेश न करना, पाँच कारण त्याग कर सदैव मौन रहना, ३. गृहस्थ पात्र में भोजन न कर पाणिपात्र में भोजन करना ४. एकाकी रहना, ५. गृहस्थ का विनय न करना। "इसका तात्पर्य यह है कि श्रमण धर्म के महान् व्याख्याता एवं श्रमणत्व के सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि की जीवनचर्या जब देखते हैं तो वे वस्त्र, पात्र एवं स्थान विशेष के परिग्रह से भी सर्वथा मुक्त थे। श्वेताम्बर मतानुसार दीक्षा के समय देवराज उन पर एक देवदूष्य वस्त्र कंधों पर रखते हैं किन्तु उन्होंने उसकी अपेक्षा न की और उसे सँभाला भी नहीं अतः तेरह मास पश्चात् वह वस्त्र सहज रूप से दूर हो गया और वे निवर्सन हो गये। इसे जिनकल्प माना गया है। इसे एक अलौकिक चमत्कार के रूप में भी स्वीकृत किया गया है। कहते हैं कि तीर्थंकरों की दिव्य देहयष्टि निर्वसन होते हुए भी एक सवस्त्र की तरह एवं शोभायुक्त दृष्टिगत होती थी। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर आहार एवं स्थान ग्रहण करने इन दो बातों में एकमत हैं, किन्तु पात्र ग्रहण एवं वस्त्र ग्रहण में विरोध है। निष्पक्षभाव से हमें इनकी खण्डन-मण्डन या विधि-निषेध की गम्भीर चर्चा में नहीं उतरना है। क्योंकि इन बाह्य गहराइयों में जाने पर भी कोई अलौकिक, अलभ्य आत्मतत्त्व या वीतराग भाव तो प्राप्त होने का है ही नहीं अपितु रागद्वेष की वृद्धि से संसार वृद्धि ही संभवित है। इसी सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर आचार्य श्री अमितगति ने बहुत ही सुन्दर श्लोक रचा है। वह निम्न है—

"नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे न तत्ववादे न च तर्कवादे।
न पक्षसेवा श्रयणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव।"

निष्पक्ष भाव से वीतराग दृष्टि से देखने पर वास्तविक सत्य यह सामने आता है कि—श्रमण साधकों की दो

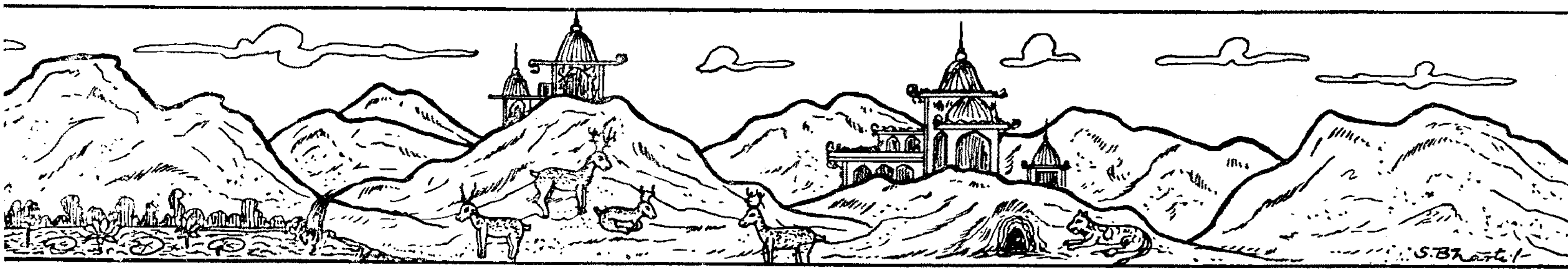

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रेणियाँ थीं, उनके नाम हैं—जिनकल्पी और स्थविरकल्पी। इनका प्रमुख तात्पर्य है आत्मसेवी और समाजसेवी। जिनकल्पी श्रमण केवल अपना ही आत्मोद्धार करते हैं, बहुत लम्बीतपस्या करके वनों में निवास करते हैं तथा यदा-कदा भिक्षाग्रहण करने बस्ती में आते हैं और भिक्षा होते ही फिर एकान्तवास करते हैं। वे चाहे वस्त्र पात्र नहीं रखें तब भी चल सकता है। किन्तु स्थविरकल्पी स्व-पर उभय-आत्मोद्धारक होते है। अतः वे ग्राम, नगर के मध्य या एक किनारे ठहरते हैं, समाज के सहस्रों स्त्री-पुरुषों के मध्य धर्मोपदेश करते हैं। अतः उनका सीमित-मर्यादित वस्त्र, पात्र रखना शास्त्र सम्मत है। भगवान महावीर जब सर्वज्ञ सर्वदर्शी एवं पूर्णज्ञानी होकर धर्मोपदेष्टा के रूप में समाज के सम्मुख आये और एक व्यवस्थित संघ की संरचना हुई तो श्रमणाचार के अनेक नियम-उपनियमों का प्रशिक्षण होने लगा। अतः भगवान महावीर एकाकी अवस्था में पाणिपात्र भोजी रहे किन्तु उनके शिष्य गणधर गौतम आदि चौदह सहस्र शिष्यों के लिये काष्ठ के तीन पात्र एवं पहनने के लिये तीन वस्त्रों का विधान किया। भोजन भी एक श्रमण किसी एक घर में न करके थोड़ी-थोड़ी भिक्षा बहुत घरों से लाकर मधुकरी एवं सामुदायिक गोचरी करके आचार्य के समीप आकर एकान्त में आहार करने लगे। श्रमण संघ में कोई श्रमण वृद्ध हो, बीमार हो नवदीक्षित हो, बाल हो तो उनकी वैयावृत्य करने के लिये पात्र में भोजन लाकर उन्हें देना होता है, अतः श्रमणसंघीय व्यवस्था में तीन पात्रों का विधान है। एक पात्र जलपान के लिये, द्वितीय आहारादि ग्रहणार्थ और तृतीय देह शुद्धि के लिये। दिगम्बर श्रमण भी देह शुद्धि के लिये एक पात्र कमण्डल रखते ही हैं।

ठाणांग सूत्र में तीन प्रकार के पात्रों का कल्प-विधान है वे[१८] हैं—१. तुम्बे का पात्र, २. काष्ठ का पात्र एवं ३. मिट्टी का पात्र। इसी प्रकार तीन कारणों से श्रमण वस्त्र धारण कर सकते हैं, वे हैं—लज्जा निवारण करने के लिये, जनता की घृणा (दुगुंछा) दूर करने के लिये और शीत, तापादि परिषह असह्य होने पर। जैसे मुनि स्वर्ण, रजत, लौह, ताम्र, पीतल आदि धातु के पात्र नहीं रखते हैं वैसे ही वस्त्र भी बहुमूल्य एवं रग-बिरंगे नहीं रख सकते, क्योंकि उन्हें अपनी देह पर वस्त्रालंकार नहीं सजाना है। ठाणांग सूत्र में श्रमण के लिये तीन प्रकार के वस्त्र का कल्प बताया है, वे हैं १. ऊनके, २. कपास के, ३. सण के। वस्त्र की मर्यादा में श्रमण के लिये ७२ हाथ एवं श्रमणी को ९६ हाथ से अधिक वस्त्र नहीं रखने का विधान है। ठाणांग सूत्र में श्रमणी के लिये चार चद्दरें रखने का नियम बताया गया है। उनमें एक चादर दो हाथ की दो चादर तीन-तीन हाथ की एवं चौथी चादर चार हाथ की लम्बी-चौड़ी होती है। प्रथम चद्दर स्थानक में रहते समय, दो चादरें गोचरी एवं बाहर भूमि में तथा चौथी चादर समवशरण अर्थात् स्त्री-पुरुषों की धर्म सभा में धर्मोपदेश करते हुए काम में आती है।

दशवैकालिक सूत्र तथा अन्यत्र भी श्रमण के कुछ उपकरणों का वर्णन मिलता है तथा जो श्रमणोपासक गृहस्थ होते हैं वे मुनि को चौदह प्रकार का निर्दोष दान देते हैं वह इस प्रकार है—१. असन, २. पान, ३. खादिम, ४. खादिम, ५. वस्त्र, ६. प्रतिग्रह (काष्ट पात्रादि), ७. कंबल, ८. पाद्पौंछन, ९. पीठ, ९. बैठने का बाजोट, १०. फलक-सोने का पाट। ११. शैय्या-मकान, १२. संथारा-तृण घास आदि सोने के लिये १३. रजोहरण-ऊनका गुच्छक जीव-रक्षाहित, १४. औषध भेषज आदि। आचारांग सूत्र १-६-३ टीका तथा वृहद्कल्पभाष्य गाथा ३९६२ में बताया है कि तीर्थंकर को छोड़कर मुखवस्त्रिका और रजोहरण, चोलपट्क तो प्रत्येक साधु-साध्वी को रखना अत्यावश्यक है क्योंकि ये श्रमण की पहचान के चिन्ह विशेष हैं तथा जीवरक्षा संयम के लिये प्रमुख उपकरण है। अनेक सूत्रों की साक्षी में मुनियों के कुछ प्रमुख उपकरण निम्नलिखित हैं—

१. मुखवस्त्रिका—बीस अंगुल लम्बा, सोलह अंगुल चौड़ा, आठ पट का वस्त्र विशेष जो सूत्र कानों में लेकर मुख पर बांधते हैं। २. **रजोहरण**—ऊनका गुच्छक वस्त्रावृत्त दण्ड में लगा कर चींटी आदि नन्हे जीवों की रक्षा का साधन। ३. **पात्र**—आहार पानी लाने तथा देहशुद्धि के लिये तीन काष्ट पात्र। ४. **चोलपट्क**—कमर से नीचे अर्धांग ढकने का वस्त्र। ५. **वस्त्र**—७२ हाथ मर्यादित श्वेत वस्त्र। ६. **कम्बल**—शीत रक्षार्थ। ७. **आसन**—बैठने के लिये। ८. **पाद-पोंछन**—वस्त्र खण्ड, ९. **शय्या**—ठहरने का मकान, १०. **संथारा**—बिछाने का पराल, घास आदि, ११. **पीठ**—बैठने की चौकी, १२. **फलक**—सोने का पाट, १३. **पात्रबंध**—पात्र बाँधने का वस्त्र, १४. **पात्र स्थापन**—वस्त्र खण्ड, १५. **पांच केसरिका**—प्रमार्जनी, १६. **पटल**—पाँच ढकने का वस्त्र, १७. **रजस्त्राण**—वस्त्र पात्र लपेटने का,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८. **दण्ड**—दण्डा वृद्धों का सहारा, **१६. मात्रक**—लधु नीति—परठने का पात्र विशेष, २०. **उडक**—उच्चारप्रस्रवण परठने का पात्र।

इनमें से कुछ उपकरण सदैव साथ रखने योग्य स्थायी और कुछ अस्थायी आवश्यकतानुसार लेकर फिर देने योग्य हैं।

जैन श्रमणों की भिक्षा विधि

विश्व इतिहास में ढूंढ़ने पर भी जैन श्रमण जैसी निर्दोष अहिंसात्मक भिक्षा विधि किसी भी धर्म गुरु की नहीं मिल सकती है। जैन श्रमण की भिक्षाचर्या मात्र भिक्षा ही न होकर एक विशिष्ठ तपश्चर्या है। जैन भिक्षाचरी को मधुकरी एवं गोचरी भी कहते हैं। जिसका तात्पर्य है कि जिस गृहस्थ से भिक्षा ले उसे कष्ट नहीं अपितु आनन्द होता है। गृहस्थ श्रमण के लिए भोजन नहीं बनाता किन्तु अपने लिये बने हुये भोजन से थोड़ा-सा अंश वह श्रमण को प्रदान करता है। भिक्षाचरी के लिये श्रमणों के लिए सहस्रों नियम-उपनियम हैं। भिक्षाचरी के लिए एक पृथक समिति का विधान है, उसका नाम है एषणा समिति। पाँच समिति में एषणा समिति अत्यन्त विस्तृत है। इसमें सोलह उद्गम के एवं सोलह उत्पाद के एवं दस एषणा के इस तरह ४२ दोष टाल कर आहार पानी लिया जाता है और ४७ दोष टाल कर आहार को भोगा जाता है। छह कारणों से आहार करते हैं। वे हैं—१. क्षुधा वेदना सहन न होने पर, २. वैयावृत्य के लिये, ३. इर्याशोधनाथ अर्थात् चलते समय जीवरक्षा करने के लिये नेत्ररक्षा आवश्यक है, ४. संयम पालने के लिए, ५. प्राणरक्षा के लिए एवं जीवन रक्षार्थ और ६. धर्म चिन्तनार्थ। इसी तरह छः कारण उपस्थित हों तो आहार त्याग करते हैं—१. रोगादि बढ़ने पर, २. संयम त्याग का उपसर्ग होने पर, ३. ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए, ४. प्राणियों की रक्षानिमित्त, ५. तपस्या के लिए एवं ६. शरीर त्याग के अवसर पर आहार का त्याग किया जाता है। तात्पर्य यह है कि आहार का ग्रहण भी संयम की रक्षा एवं वृद्धि के लिए है और आहार का त्याग भी संयम रक्षा के उद्देश्य से किया जाता है।

श्रमणों की दिनरात्रि की चर्या—नित्याचरण

श्रमण का उद्देश्य है सिद्धत्व और उसका साधन है स्वाध्याय और ध्यान। श्रमण स्वाध्याय और ध्यान के द्वारा सिद्धपद को पा सकता है। अत: वह दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करता है। दूसरे प्रहर में ध्यान करता है, तृतीय प्रहर में भिक्षाचर्या करता है और चतुर्थ प्रहर में पुन: स्वाध्याय करता है। स्वाध्याय और ध्यान यही श्रमण के दो प्रमुख कार्य हैं। भिक्षाचरी एवं आहारग्रहण करने का उद्देश्य भी स्वाध्याय एवं ध्यान है। स्वाध्याय के द्वारा वह जीवादि तत्त्वों का ज्ञान करता है और ध्यान के द्वारा जीव स्वभाव दशा में स्थिर रहना सीखता है। आचार्य उमास्वाति की व्याख्या से "चित्त की समस्त बाह्यवृत्तियों की चिन्ता का निरुंधन करके आत्मा में एकाग्र होकर स्थिर हो जाना ध्यान है। आत्मा में लीनता, आत्मा में एकरूपता होने पर आत्मा निर्विकल्प ध्यान तक पहुँचता है। अध्यात्म योगी सन्त श्री आनन्दघनजी ने ध्यान के विषय में बहुत ही सुन्दर व्याख्या की है, वह यह है सारे संसारी जीव इन्द्रियादि बाह्य विषयों में रमते हैं किन्तु मुनिगण एक मात्र अपनी आत्मा में रमते हैं और जो आत्मा में रमते हैं वे निष्कामी होते हैं। श्रमण गण आर्तध्यान और रौद्र ध्यान को त्याज्य समझते हैं और धर्म-ध्यान, शुक्ल ध्यान को ध्येय समझते हैं। जैनागमों में धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान की बहुत विस्तृत व्याख्याएँ हैं। जो श्रमण धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान का निरन्तर अभ्यास करते हैं उन्हें दिव्य आत्मज्ञान अर्थात् क्रमशः अवधि, मनपर्यव एवं केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। जब तक साध्य सिद्ध न हो तब तक ध्यान की साधना निरन्तर चलती रहती है। जैसे एक तैराक जब तक तिरना पूरा न आये तब तक अभ्यास करता ही रहता है। वैसे चित्रकला की सफलता के लिए चित्रकार, विज्ञान के लिए वैज्ञानिक, भाषा ज्ञान के लिये भाषा का विद्यार्थी चिकित्सा के लिए वैद्य, इत्यादि निरन्तर श्रम करते हैं, वैसे ही श्रमण मोह पर विजय करने के लिए निरन्तर ध्यान साधना करता ही रहता है। तभी सफलता की संभावना रहती है। श्रमण की रात्रिचर्या में भी स्वाध्याय और ध्यान प्रमुख कार्य हैं। जैसे—रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में निद्रा और चतुर्थ प्रहर में पुन: स्वाध्याय करते हैं। निद्रा लेना श्रमण का उद्देश्य नहीं है किन्तु ध्यान की निर्विघ्नता के लिए वह विश्राम करता है। जब ध्याता, ध्यान

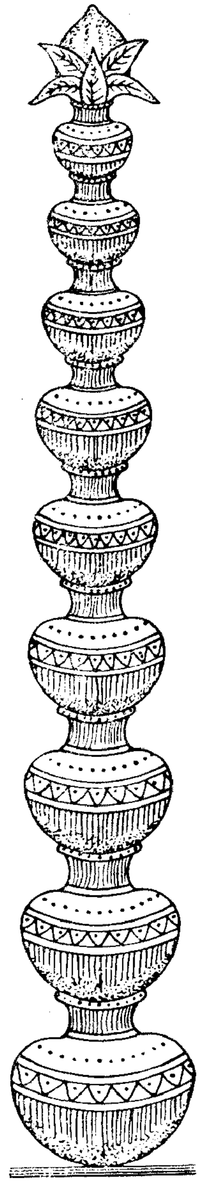

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और ध्येय तीनों एक रूप हो जाते हैं, तब सफलता प्राप्त होती है। किन्तु जब किसी रुग्ण, तपस्वी, वृद्ध आदि श्रमण की सेवा का अवसर होता है तो श्रमण परोपकार के लिए अपनी स्वाध्याय एवं ध्यान की साधना छोड़कर भी वैयावृत्य में लग जाता है। क्योंकि इस कार्य के द्वारा वह स्व-पर उभय का आत्मोद्धार करता है। इससे स्वयं उसका ही ध्यान स्थिर नहीं होता अपितु दूसरे का भी ध्यान स्थिर करने में सहायक सिद्ध होता है।

श्रमणों की श्रेणियां

जैसे विद्यालय में प्रविष्ट सभी विद्यार्थी एक-समान श्रेणी में नहीं होते, वैसे ही श्रमण साधना के केन्द्र में प्रविष्ट सभी श्रमण एक समान श्रेणी में नहीं होते। यद्यपि बाह्य वेश विन्यास, वस्त्र पात्रादि उपकरण में विशेष विभिन्नता नहीं होती किन्तु अन्तर के चरित्र में अन्तर होता है।

भगवती सूत्र के २५वें शतक, छठे उद्देशक में छः प्रकार के निर्ग्रन्थ की श्रेणियाँ, प्रज्ञप्त की गई हैं, वे हैं—पुलाक, बकुश, प्रतिसेवना, कषाय-कुशील, निर्ग्रन्थ एवं स्नातक। इनमें प्रथम चावल की शालि समान जिसमें शुद्धि कम अशुद्धि अधिक, द्वितीय खेत से कटी शालिवत् शुद्धि अशुद्धि समान, तृतीय खलिहान में उफनी शालिवत् शुद्धि अधिक अशुद्धि कम, चतुर्थ छिलके सहित शालिवत, पंचम अर्ध छिलके रहित चावल वत्, षष्ठम पूर्ण शुद्ध। इनमें पुलाक, बकुश, प्रतिसेवना में दो चारित्र होते हैं—सामायिक चारित्र एवं छेदोपस्थापनीय तथा कषायकुशील में चार चारित्र होते हैं—सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार-विशुद्धि एवं सूक्ष्मसंपराय। निर्ग्रन्थ एवं स्नातक में एक यथाख्यात चारित्र होता है। इनमें पुलाक, बकुश, प्रतिसेवना में छठा, सातवां, गुणस्थान होता है। कषाय कुशील में छठे से लगा कर दसवां, ग्यारहवां गुणस्थान हो सकता है एवं निर्ग्रन्थ में बारहवाँ गुणस्थान होता है तथा स्नातक में तेरहवां चौदहवां गुणस्थान होता है।

भगवती सूत्र में आराधना के भेद से भी श्रमणों की श्रेणियाँ विभाजित की गई हैं। जैसे गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है—हे प्रभु! आराधना कितने प्रकार की है? भगवान महावीर ने प्रत्युत्तर दिया—हे गौतम! आराधना तीन प्रकार की है वह है, १. ज्ञानाराधना, २. दर्शनाराधना एवं ३. चारित्राराधना।[20] इनमें ज्ञानाराधना तीन प्रकार की है जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट। इसी प्रकार दर्शनाराधना एवं चारित्राराधना के भी तीन-तीन भेद हैं। ज्ञान जघन्य अष्ट प्रवचन का, मध्यम एकादश अंग का, उत्कृष्ट चौदह पूर्व का होता है। ऐसे ही दर्शन में जघन्य सास्वादन मध्यम क्षायोपशमिक, उत्कृष्ट क्षायिक सम्यक्त्व है। चारित्र में जघन्य सामायिक चारित्र, मध्यम परिहार विशुद्ध चारित्र एवं उत्कृष्ट यथाख्यात चारित्र। इसके पश्चात् श्री गौतम गणधर ने तीनों आराधना का फल पूछा है। उसके प्रत्युत्तर में भगवान ने कहा कि जघन्य आराधना वाले उसी भव में, तीन भव में अथवा १५ भव में अवश्य सिद्धि प्राप्त करते हैं। मध्यम आराधना वाले उसी भव में, दो भव में एवं तीसरे भव में सिद्धि प्राप्त करते हैं और उत्कृष्ट आराधना वाले साधक उसी भव में सिद्ध होते हैं अथवा दूसरे भव में तो अवश्य सिद्धि प्राप्त करते हैं। इस प्रकार साधना के अनुसार साधकों के भेद भी होते हैं।

सभी साधकों में सर्वोत्कृष्ट सिरमौर पूर्ण निर्ग्रन्थ अरिहन्त प्रभु माने जाते हैं। यद्यपि सिद्ध भगवान उनसे भी उच्च स्थिति में हैं किन्तु मोक्ष मार्ग प्रकाशक भास्करवत् सभी आत्माओं के परमोपकारी होने से अरिहंत प्रभु का परमेष्ठी मंत्र में सर्वप्रथम स्मरण एवं नमस्कार किया गया है। अरिहंत प्रभु के लक्षणों में चौतीस अतिशय, पैंतीस वाणी के एवं द्वादशमूल गुण बताये जाते हैं। ऐसे सिद्ध प्रभु में अष्ट गुण, आचार्यों के छत्तीस गुण उपाध्यायों के पच्चीस गुण एवं सर्व साधुजनों के सत्ताईस मूलगुण हैं। यद्यपि अरिहन्तों से लेकर पाँचवें पद साधुजन तक के पाँचों पदों में सिद्धों के अतिरिक्त श्रमण का पद तो सभी में है किन्तु उनकी श्रेणी में आकाश-पाताल का अन्तर है। फिर भी साध्य सभी का एक है।

श्रमण साधना में दुःख है अथवा सुख : एक प्रश्न

श्रमणत्व की साधना का एकमात्र साध्य है सुख। सुख भी क्षणिक नहीं अपितु शाश्वत सुख। उस सुख की प्राप्ति के लिए यदि थोड़ा-सा दुःख भी सहना पड़े तो वह नगण्य है। जैसे एक भयंकर रोग की उपशान्ति के लिए व्यक्ति कड़वी से कड़वी औषधी हँसते-हँसते पी जाता है। इंजेक्शनों की सुइयाँ अपने फूलों-सी कोमल देह में चुभाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बड़े-बड़े आपरेशन कराके चीर-फाड़ करवाने से नहीं हिचकता वैसे ही अनन्त सौख्य के लिए श्रमण साधना के समय आने वाले कष्टों को साधक हँसते-हँसते सह जाता है। श्रमण साधकों के जीवन में अनेक अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषह आते हैं। उसके पथ में फूल भी हैं और शूल भी किन्तु वह फूलों में लुभाता नहीं और शूलों से पीछे हटता नहीं। क्षुधा, तृषा, शीत, तप, आदि बावीस परीषह उत्पन्न होते हैं। किन्तु ज्यों-ज्यों साधक की साधना आगे बढ़ती है त्यों-त्यों ये परीषह सहज रूप से कम हो जाते हैं और जो साधक श्रमणत्व के सर्वोच्च अरिहन्त पद पर पहुँच जाता है उसके लिए एकादश परीषह ही शेष रहते हैं एवं जो सिद्ध पद में पहुँचता है उसके समूल परीषहों का नाश हो जाता है।

श्रमणत्व ग्रहण करते समय सुग्रीव नगर के राजकुमार मृगापुत्र को उनकी माता ने श्रमणत्व के अनेक दुःख बताये किन्तु मृगापुत्र ने अविचल भाव से उत्तर दिया कि श्रमण साधना की अपेक्षा संसार में अनन्त दुःख भरे पड़े हैं, वे दुःख असह्य हैं। वे दुःख निम्न हैं---जन्म, जरा, मृत्यु, रोग इन दुःखों से जीव क्लेश पा रहे हैं। अतः इस जन्म-मरण के चक्र में एक क्षण भी सुख नहीं मान सकता हूँ। मैंने अनन्त बार शारीरिक मानसिक आदि भयानक वेदनाएँ नरकादि दुर्गतियों में सहन की हैं उनके सामने श्रमणत्व की साधना के दुःख तो अणु जितने भी नहीं हैं। जैसे एक मृग अरण्य में एकाकी निवास करता है किन्तु अपने को दुःखी नहीं मानता। इसी प्रकार मैं भी एकाकी रह कर धर्म की साधना करूँगा।" एक बार श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने अपने सभी शिष्यों को आमन्त्रित करके एक महान् सिद्धान्त बताया। उन्होंने अपने शिष्यों से प्रश्न किया कि—'आर्यो प्राणियों को किसका भय है? जब शिष्यों ने भगवान से ही इसका प्रति प्रश्न किया तो भगवान ने कहा—अहो आयुष्यमान श्रमणो! सभी प्राणी दुःखों से भयभीत होते हैं। शिष्यों ने पूछा—भगवन्, वह दुःख किसने उत्पन्न किया? भगवान ने कहा—वह दुःख जीवों ने अपने प्रमाद से, अर्थात् अज्ञान व असंयम से उत्पन्न किया है और उस दुःख को जीव अपने अप्रमाद अर्थात् सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् क्रिया संयम से दूर कर सकते हैं।

श्रमण-साधना में दुःखानुभूति है अथवा सुखानुभूति ?

यह श्रमण की उसकी मानसिक स्थिति पर निर्भर है। जो श्रमण श्रमणत्व में सुख मानता है उसके लिए उसमें स्वर्ग से भी अधिक सौख्य की अनुभूति होती है और जो श्रमणत्व में पराजित होकर बाह्य बन्धन से उसमें रहता है उसके लिए श्रमणत्व सातवीं नरक से भी अधिक दुःखप्रद है। क्योंकि परिस्थिति की अनुकूलता प्रतिकूलता कभी-कभी कर्त्ता के अधीन होती है। जो परिस्थिति को अपने पुरुषार्थ से स्वेच्छानुसार स्वस्थिति बनाने में समर्थ होता है उसके लिए कहीं दुःख नाम का तत्त्व है ही नहीं। क्योंकि सुख-दुःख दोनों का कर्त्ता आत्मा ही है। आत्मा ही वैतरणी नदी एवं नन्दन वन के दुःख-सुख का कर्त्ता भोक्ता हैं।

---

१ (क) "समयाए समणो होइ,"
(ख) सव्वभूयप्प-भूयस्स सम्मं भूयाइ पासओ—'दशवै० अ० ४, गा० ६
(ग) आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।

२ लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निन्दा पसंसासु तहा माणावमाणओ ॥—उत्त० अ० १६, गा० ६०
अणिस्सिओ इहं लोए परलोए आणीस्सओ
वासी चन्दण कप्पो य, असणे अणसणे तहा।—उत्त० अ० १६, गा० ६२

३ 'अतत्ताए परिव्वए'—सूत्र कृतांग अ० ३, उ० ३, गा० ११

४ अतत्ताए संवुडस्स'—सूत्र०, अ० २

५ "जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी।
जा निरस्साविणी नावा सा उ पारस्स गामिणी।"—
सरीर माहु नावित्ति जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो जं तरन्ति महेसिणो।"—उत्त० २३

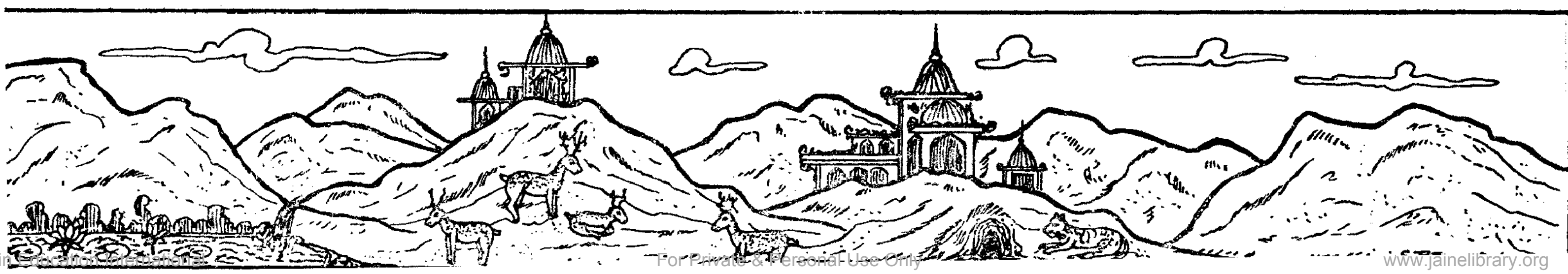

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६ न मुंडिएण समणो, ओंकारेण न बम्भणो
न मुणी रण्णवासेणं कुसचीरेण तावसो ।।
समयाए समणो होइ बम्भचेरेण बम्भणो ।
मोणेण य मुणी होइ तवेण होइ तावसो ।।—उत्तराध्ययन

७ दस मुंडा पं० तं०—सोइंदिय मुंडे, चक्खुन्दिय मुँडे, घाणिन्दिय मुंडे, रसेन्दिय मुंडे, फासिन्दिय मुँडे, कोह मुँडे, माण मुंडे, माया मुंडे, जाव लोभमुंडे, दसमे सिरमुँडे ।" ठाणांग सूत्र १० वां ठाणा'
दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते तंजहा—खंति, मुत्ति, अज्जवे मद्दवे, लाघवे, सच्चे, संजमे, तवे, चियाए, बंभचेरवासे ।
—स्थानांग १०

८ सत्तावीसं अणगारगुणा पन्नत्ता तंजहा—पाणाइवायाओ वेरमण मुसावायाओ वेरमणं, अदिन्नादाणाओ वेरमणं, मेहुणतओ वेरमणं, परिग्गहाओवेरमणं, सोइंदियनिग्गहे, चक्खिंदियनिग्गहे, घाणिन्दियनिग्गहे जिब्भिंदियनिग्गहे फासिदियनिग्गहे, कोण विवेगे, माण विवेगे मायाविवेगे, लोभविवेगे, भावसच्चे, करण सच्चे, जोगसच्चे खमा, विरागया, मण समाहरणया, वयसमाहरणया, कायसमाहरणया, णाणसंपण्णया, दंसण संपण्णया, चरित्त संपण्णया वेयण अहियासणया, मारणंतिय अहियासणया ।

९ सत्तरसविहे संजमे पं० तं० पुढवीकाय संजमे, आउकाय संजमे, तेउकाय संजमे, वाउकाय संजमे, वणस्सइकाय संजमे, बेइन्दिय संजमे, तेइन्दिय संजमे, चउरिन्दिय संजमे, पंचिंदिय संजमे, अजीवकाय संजमे, पेहा संजमे, उवेहा संजमे, अवहट्टु संजमे, अप्पमज्जणा संजमे, मण संजमे, वइ संजमे, काय संजमे ।
—समवायांग सूत्र २७

१० "असंजमे नियत्तिं व संजमे य पवत्तणं" ।—उत्तरा० सू० ३१–२

११ दशवैकालिक अध्ययन ४, गाथा १० से २४

१२ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः—आ० उमास्वाति,

१३ "जगत्काय स्वभावो व संवेग वैराग्यार्थम्"—आ० उमा० तत्त्वार्थ सूत्र

१४ नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा—उत्तराध्ययन

१५ कहं चरे, कह चिट्ठे, कहमासे, कहं सए ।
कहं भुंजन्तो भासन्तो पावकम्मं न बंधइ ।।

१६ जयं चरे जयंचिट्ठे जयमासे जयं सए
जयं भुंजन्तो मासंतो पावकम्मं ण बन्धइ ।

१७ "संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस भिक्खुणो ।" —उत्तरा० १

१८ पिंडं, सिज्जं च वत्थं च चउत्थं पाय मेव य ।
अकप्पियं न इच्छिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पियं ।—दशवै, अ० ६, गा० ४८

१९ ठाणांग सू० ३ ठाणा

२० "कइविहा णं भंते आराहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! तिविहा आराहणा पण्णत्ता
तंजहा—नाणाराहणा दंसणाराहणा चरित्ताराहणा ।—भगवती सूत्र श० ८ उद्देशक १०वाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org